'बीच बहस में बचपन' उपनिवेशकालीन भारत का एक अध्ययन

❑ नंदिनी चंद्रा

पृथक पार्क, पृथक पठन सामग्री, खिलौने और नर्सरियां, यह सभी 20 वीं सदी के पूर्वार्द्ध में हिन्दी के हृदय स्थल में बचपन को लेकर उभरती नई सोच के सूचक थे। सदी के आरंभिक वर्षों में उत्तरी भारत के विभिन्न शहरों और कस्बों से बच्चों के लिए प्रकाशित होने वाली पत्र-पत्रिकाओं की बाढ़-सी आ गई, इनमें शिशु (इलाहाबाद 1915) बाल सखा (इलाहाबाद 1917), बालक (लहरिया सराय एवं पटना 1927), खिलौना (इलाहाबाद 1927), बानर (इलाहाबाद 1931) और बाल गोविंद (लखनऊ 1933) के नाम उल्लेखनीय हैं। बचपन का यह संस्थानीकरण मैकाले द्वारा स्थापित अंग्रेजी शिक्षा पद्धति (1835) का उपोत्पाद था। केन्द्रीकृत और अनिवार्य शिक्षा ने समूचे पाठ्यपुस्तक उद्योग को जन्म दिया जो कि न केवल मुनाफा दिलाने वाला था बल्कि छापे के पूंजीवाद के प्रसार के फलस्वरूप ज्ञान तथा सांस्कृतिक तंत्र का भी एकरूपीकरण कर रहा था। साथ ही, जैसा कि सभी जानते हैं अंग्रेजी शिक्षा का उद्देश्य एक बिचौलिया वर्ग तैयार करना था इसलिए बचपन के सारे विशेषाधिकार भी इसी वर्ग विशेष तक सीमित हो जाते थे। हालांकि बचपन को एक सार्वभौमिक स्थिति मानते हुए इसने सार्वभौमिक बुर्जुआ मूल्यों को स्थापित करने की भी कोशिश की लेकिन वर्ग, धर्म और लिंग संबंधी विचारों ने इसके विपरीत भी असर किया। उदाहरण के तौर पर एक ऐसा समाज, जिसमें बचपन के तमाम विशेषाधिकार ऊंची जाति की पुरुष संतानों तक सीमित थे, वह हतप्रभ था। यह पत्र इसी सवाल की पड़ताल करता है कि क्या नई शैक्षिक पूंजी ने ऐसे विचारों को बढ़ावा दिया जिन्होंने संभावित नागरिकों की भावी पीढ़ी के सशक्तीकरण या उसे आंदोलित करने में मदद की या इसने महज हिन्दी के उभरते बुद्धिजीवी वर्ग की महत्त्वाकांक्षा को संघटित किया।

शुरूआत के तौर पर, बच्चों के प्रति देखने के इस नए नजरिए का प्रस्थान बिन्दु क्या था ? फिलिप एटीज के यूरोप में बचपन के इतिहास पर शोध (सेन्चुरीज ऑफ चाइल्डहुड - 1962) को उपनिवेशकालीन उत्तर भारत के संदर्भ में दोहराया जाए तो कहा जा सकता है कि पूर्व में बच्चों का अस्तित्व व्यापक समाज के ही अभिन्न अंग के रूप में स्वीकृत था, जबकि अब नए विचार के चलते उनके बचपन को भिन्न तथा विशेष महत्त्व दिया गया है। बचपन की असाधारणता को बढ़ावा देने और सुरक्षित रखने के इरादे से उन्हें बाहरी प्रभावों, गली की स्वच्छंद जिंदगी, बाजार और यौनिकता इन सबसे दूर रखा गया। बच्चों के लिए बाल सुलभ माने गए विशेष इलाकों को चिह्नित किया गया, जैसे कि घर, स्कूल और पार्क। यह देखते हुए कि शिक्षाविद्, बुद्धिजीवी, अभिजात, और राजकीय तंत्र से संबद्ध तमाम लोगों ने बच्चों को एक अलग वर्ग मानने के विचार को महत्त्व दिया, यह पूछा जा सकता है कि

भाई-भतीजों को लाभ पहुंचाना हुआ करता था। इसमें भी आयु सीमा बांधकर उम्र पर आधारित वर्गीकरण किया गया जिसके चलते खास किस्म की शिक्षा एक निश्चित आयु सीमा के दौरान ही अर्जित करने की सीमा तय कर दी गई। इस तरह शिक्षा का सर्वाधिक ध्यान जातीय तथा पारिवारिक रूप से विशेषाधिकार प्राप्त वर्गों के बच्चों में पढ़ाई बीच में छोड़ने या स्कूल छोड़ कर भाग जाने की प्रवृत्ति को नियंत्रित करना था। पीछे जो बच जाते हैं उसकी तो पढ़ाई को छूटना ही था। अंततः भाषा की उर्दू से हिंदी से अंग्रेजी की ओर परिवर्तनशीलता के पहलू ने सामाजीकरण के पुराने रूपों के साथ अपना काम किया। अलग-अलग भाषाओं में पाठ्यपुस्तकों के अलग-अलग पाठक समुदाय इससे पहले कभी नहीं हुए थे और इस तरह सांप्रदायिक शिक्षा के बीज पड़े, अनेक शोधार्थी जिसका जिक्र करते रहे हैं।

लेकिन जब तक राष्ट्रवाद का क्रांतिवादी बुखार उतरा, बच्चों की प्रश्नाकुलता और कल्पनाशीलता को भी एक मुकाम मिल गया था। उनके सपनों और आकांक्षाओं को एक वास्तविक गैर उपकरणिक घेरा मिल गया था। गांधी (नेहरू नहीं) बच्चों को मिठाई खाने से मना करने और अति भावुकता के बावजूद अत्यंत प्रिय थे। संभवतः इसलिए क्योंकि उन्होंने ही पितृसत्ता को हस्तांतरित करने में मदद की थी।

मूल पितृसत्ता से संघर्ष कर गांधी और उनके समान उदार शिक्षकों तथा सलाहकारों ने सत्ता को हासिल किया। वास्तव में बच्चे स्थानीय अधिकारियों को चुनौती दे पाते थे क्योंकि गांधी में एक वैकल्पिक सत्ता केन्द्र निहित था। मैं अपनी बात 'बालसखा' में प्रकाशित एक बच्चे के सपने से खत्म करना चाहूंगी जिसमें गांधी अनेक मुखौटों की आड़ में सत्ता का विघटन करते हैं और इनमें से अनेक मुखौटे भयावह ढंग से नितांत गांधी विरुद्ध छवियों में तब्दील होने लगते हैं। निश्चय ही प्रमुख प्रूफ संपादक सोहन लाल द्विवेदी को यह सपना बहुत आपत्तिजनक लगा और उन्होंने इसे छापने से इंकार कर दिया। लेकिन मुख्य संपादक श्रीनाथ सिंह ने इस पर अंतिम निर्णय करने के लिए इसकी एक प्रति स्वयं गांधी जी को भेज दी। गांधी ने अनापत्ति प्रमाण-पत्र के साथ इसे उन्हें वापस लौटा दिया।

सपने में गांधी बच्चे को अलग-अलग वेशों में नजर आते हैं। पहले पहल वे एक ऐसे बूढ़े व्यक्ति के रूप में दिखाई देते हैं जो खूब मजे ले ले कर मिठाई खा रहे हैं और अविश्वास से उनकी ओर देख रहे बच्चे और उसकी मुंह फाड़े पास बैठी छोटी बहन के साथ भी उसे नहीं बांट रहे हैं। प्रत्यक्षतः गांधी के नियमों में मिठाई खाना वर्जित है और खुद वे मिठाई खा रहे हैं। यह तो लगभग पाप ही माना जाएगा। इसके बाद में गांधी एक सुंदर लेकिन बुरी औरत में बदल जाते हैं जो कांग्रेसी स्वयं सेवकों पर लगातार हुकुम चलाती रहती है कि वे उसके लिए सुंदर-सुंदर साड़ियां लाएं, जिन सबको एक साथ पहनकर वे अपने लंबे बालों को संवार रहे हैं, उन्होंने लिपिस्टिक लगाई हुई है, पाउडर और रूज लगाया हुआ है और नाक में लोंग भी पहना है। इन सबको पहनकर वे खुद लेखक की मां से भी सुंदर नजर आ रहे हैं। जैसे इतना ही पर्याप्त नहीं था कि गांधी लड़के को थप्पड़ लगा देते हैं। इस पर लड़के को इतना गुस्सा आता है कि वह उनका पीछा करता है और एक पुलिस वाले की तरह उन्हें धर दबोच लेता है। इसके बाद वे दोनों एक नाव में बैठकर समुंदर में घूमने जाते हैं। लेकिन बीच राह में नाव में छेद हो जाता है। धीरे-धीरे गांधी अपने आश्वस्त करने वाले वास्तविक रूप में लौट आते हैं लेकिन तब तक वे अपना एक पैर गंवा चुके होते हैं और धीरे-धीरे उनकी पकड़ शिकंजे की तरह कसने लगती है। गांधी लेखक के सामने स्वीकार करते हैं, "मैं बहुत क्रूर हो गया था।" लड़का इससे इन्कार करता है और कहता है, "आप तो बहुत उदार हैं, याद कीजिए अखबार में आपकी वह फोटो छपी थी जिसमें आप गले में सांपों की माला पहने हैं और उस पर कैप्शन लगा है आपको सांपों के प्रति भी उतना ही उदार होना चाहिए।" गांधी इस पर बहुत खुश होते हैं और उसे गले से लगा लेते हैं और सपना टूट जाता है। जागते ही जो पहली बात बच्चे को याद आती है वह यह कि गांधी जी तो मिठाई नहीं खाते, "फिर मैंने कैसे उन्हें रसगुल्ला खाते देख लिया ?" (गोपाल नारायण माथुर, 'स्वप्न में गांधी से भेंट' बाल सखा, सितंबर 1935 पृ. 424-26)।

हालांकि बच्चे समय और संस्कृतियों की सीमाओं से परे नैतिक पुलिस को पलट कर अपनी ओर देखने को विवश करने के लिए (नंगे राजा की तरह) हमेशा प्रख्यात रहे हैं, इस खास ऐतिहासिक मोड़ पर इस बात की जरूरत है कि आनंद के सिद्धांत में शैतानी प्रवृत्तियां देखने वालों को प्रश्नित किया जाए- रसगुल्ला क्यों नहीं ? क्यों चूड़ियों (जो कि इतनी सुंदर होती हैं) को कमजोरी की निशानी माना जाए ? क्यों पहनें कपड़े जबकि पशु नंगे रह सकते हैं ? क्यों न करें चुगली अगर इसमें मजा आता है और खास-तौर से अगर कोई परेशान है तो ? एक तरह से हिंदी बाल संसार का खास आकार जितना यूरोपीय उपनिवेशवाद का उत्पाद है उतना ही होने के अंतिम तरीकों से भी मिश्रित है। यह विडंबना ही है कि इसका बहुत कम अंश रह गया है और जो रह गया है वह धार्मिक और दंभी बचपन का उदाहरण पेश करता है। ◆

अनुवाद : देवयानी

प्रो. कृष्ण कुमार से बातचीत

प्रो. कृष्ण कुमार के साथ हिमांशु, जितेन्द्र एवं विश्वंभर की बातचीत

प्रश्न: *आपने अपने निबंध 'आजाद बच्चे फिर जन्म लेंगे' में 'बालक' और 'बाल सखा' आदि पत्रिकाओं का उल्लेख करते हुए लिखा है कि स्वतंत्रता प्राप्ति से पूर्व तीसरे और चौथे दशक के बाल साहित्य में अकेले, अडिग और आत्मविश्वासी बच्चों का चित्रण मिलता था। आपने 'महके सारी गली गली' में भी इस बात को फिर से रेखांकित किया है कि तीसरे चौथे दशक के बाल साहित्य में जीवन स्पंदन उस दौर के साहित्य की विशेषता थी। प्रेमचन्द की 'ईदगाह' और सुदर्शन की 'सबसे अच्छा बस्ता' के माध्यम से आपने बताया है कि उस दौर के बाल चरित्र बालकोचित भी थे और विवेकवान भी। स्वतन्त्रता के बाद जब पूंजीवादी संस्थान प्रकाशन से जुड़े तो मूलभूत परिवर्तन आया और कहानियों में बच्चों के चरित्र पूरी तरह बदल गए। ये तो सब एक पक्ष हुआ। दूसरी ओर आपने ये भी लिखा है एक से अधिक जगह कि, सन 1932 में आचार्य शुक्ल द्वारा संपादित हिंदी की पाठ्यपुस्तक ने हिंदी को एक गैर-मुस्लिम अस्मिता से जोड़ा और उपदेशपरकता पाठ्यपुस्तकों का प्रमुख बिंदु बन गई और पाठ्यपुस्तकें नैतिक पुनरुत्थानवादी चेतना के प्रसार का माध्यम बन गईं ... तो इन दोनों बातों में द्वैत है। इसका कारण स्पष्ट करेंगे ?*

उत्तर: देखिए द्वैत इसलिए नहीं है क्योंकि एक बात है साहित्य के बारे में और दूसरी बात है शिक्षा के बारे में। शिक्षा औपनिवेशिक प्रशासन की नीतियों, औपनिवेशिक परिवेश और शिक्षा के क्षेत्र में चली आ रही, उपनिवेशकाल के बहुत पहले से चली आ रही, परंपराओं से प्रभावित हुई। साहित्य तो हमेशा से एक, आप कह सकते हैं, प्रतिस्पर्धी स्वर होता है समाज का, उसके ऊपर प्रशासनिक ढांचों और संस्थाई ढांचों का, संस्थाई परंपराओं का असर नहीं पड़ता है, इसलिए उसको आप साहित्य कहते हैं। इसलिए तो वो एक स्पंदन का प्रतीक होता है, किसी हद तक विरोध का प्रतीक होता है। किसी भी युग में साहित्य को अगर आप इस दृष्टिकोण से देखें तो आप पाएंगे कि जो संस्था में नहीं हो सकता है वही तो साहित्य में होता है। अब आजादी के संदर्भ में विशेष रूप से जो पूरे भारत में चेतना जागी खासकर उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्ध से, जिसने धीरे-धीरे एक परिधि बढ़ाई, उस चेतना का प्रतिबिंबन इस रूप में भी होना शुरू हुआ कि हमारे समाज में बच्चों के लिए अलग से कुछ रचनाकार लिखने की चुनौती लेकर सामने आए। लेकिन शिक्षा का जो मामला है वह तो वही चल रहा था जो कि औपनिवेशिक ढांचे में चल रहा था जिसकी चर्चा मैंने अनेक स्थानों पर की है। और आपको पता ही होगा कि इसके क्या निहितार्थ थे और जिस सरकारी ढांचे में काम करती थी, शिक्षा पद्धति उसी ढंग से काम कर रही थी भले ही 1930 तक आते आते भारतीय भाषाओं का प्रयोग उसमें थोड़ा बहुत बढ़ा। तीस के दशक में इंटरमिडियेट में हिन्दी एक विषय बनी। और इस तरह के सांकेतिक

हैं कि एक हिन्दी पट्टी में विशेष हिन्दी क्षेत्र का जो भी कह लीजिए उसमें विशेष एक समस्या है कि चूंकि हम हिन्दी को अपनी एक प्रांतीय या अपनी आंचलिक अस्मिता का भी एक समर्थ माध्यम नहीं बना सके हैं इसलिए भी एक तरह का अवसाद है वो छाया हुआ है। हिन्दी जगत में और वो बाल पत्रिकाओं में भी दिखलाई देता है। जो कि बांगला में या मराठी में नहीं दिखलाई देता है। तो अब यही है कि गुजारे की हैं ये पत्रिकाएं। कड़की में गुजारा करने वाली बात है। मैं अभी देख रहा था जो-अच्छा है प्रयास -भास्कर ने बाल भास्कर शुरू किया, हर हफ्ते छपता है, उसमें बच्चों के कुछ चुटकुले हैं, कुछ अच्छे चुटकुले छप जाते हैं। अभी मैंने एक वर्कशाप में दो चुटकुले इस्तेमाल किए थे। दो हफ्ते पहले मुझे आराम से पढ़ने को मिली वो पत्रिका छत्तीसगढ़ में। यहां तो भास्कर आता नहीं है, और लेट हो जाता है। तो उसमें मुझे लगता है कि कुछ अच्छा, कुछ गुंजाइश है, क्योंकि उनके पास अच्छी प्रिंटिग टेक्नॉलॉजी है और कागज भी अच्छा है । लेकिन यही है कि वो बहुत एक सोची समझी, एक लम्बी योजना के तहत निकाली जा रही पत्रिका है, ऐसा नहीं है। इधर-उधर से बहुत सी सामग्री मिल ही जाती है कुछ और... देखिए जैसे फिल्में फार्मूले से बनती हैं वैसे ही आज का बाल साहित्य फार्मूले से बनता है। कि आपने कहीं से कुछ कॉमिक स्ट्रिप ले लिया, कहीं से कोई कार्टून ले लिया, कहीं से कोई पहेली ले ली, कहीं से ढूंढ़ो तो जाने ले लिया, कहीं से कुछ एक सीरिज ले ली तो उस तरह से मिलजुल कर के एक चीज बन जाती है। जो एक योजनाबद्ध तरीके से आप कुछ करते हैं उस तरीके से तो मेरे ख्याल से एक भी हिन्दी पत्रिका इस समय नहीं है जिस पर आप विचार कर सकें। और वो एक ज्यादा वृहत्तर समस्या का प्रतीक भर है क्योंकि वो... पत्रिका जगत तो उसका एक प्रतीक भर है या उसका एक प्रतिबिम्बन है। बच्चों के प्रति चिन्तित होकर के या बच्चों के प्रति उत्साहित होकर के लिखा जाने वाला साहित्य अगर बड़ी मात्रा में लिखा जा रहा हो तो उसी का एक रूप पत्रिका में आता है। यानी इंडियन प्रेस इतनी तमाम चीजें छाप रहा था बच्चों के लिए तभी 'बालसखा' को इतने समय तक वो टिकाए रख सका। आप देख लीजिए कि जब इतने बड़े-बड़े साहित्यकार पदमलाल मुन्नालाल बक्षी, देवीदत्त शुक्ल और ठाकुर श्रीनाथसिंह के स्तर के साहित्यकारों को वो उस युग में संपादक बना सका और इतने समय तक उसने वो किया। आज मैं तो नहीं समझता कि आप एक भी बड़े संपादक का नाम ले सकते हों। और ये बात केवल बाल पत्रिकाओं की नहीं है। आप पत्रिका जगत पर भी गौर करें तो कौनसा बहुत बड़ा साहित्यकार है जो आप ढूंढ़ पाएं जो एक व्यापारिक या व्यावसायिक पत्रिका का उस तरह से संपादक हो, जैसे धर्मवीर जी धर्मयुग को निकालते थे, अज्ञेय जी दिनमान को निकालते थे उस तरह की चीज, तो बाल पत्रिकाओं पर भी वही बात लागू होती है। श्रीनाथ सिंह के स्तर का कोई साहित्यकार आज बाल पत्रिकाओं का संपादक हो, जिसकी कोई दृष्टि हो। जो महीने दर महीने हमारे सामने आ रही हो, इस तरह की कोई स्थिति तो है नहीं। इसलिए तुलना एक तरह से व्यर्थ है क्योंकि यह व्यर्थ में आप को उदास करेगी। और मैं नहीं समझता कि उदासी के लिए हम लोगों के पास कोई वक्त होना चाहिए। इसलिए आप इस प्रश्न को तो छोड़ ही दें।

प्रश्नः लेकिन बबूल का पेड़ है कोई ?

उत्तरः नहीं जैसा मैंने आप से कहा कि आप बबूल को अगर कांटों के लिए इस्तेमाल कर रहे हैं तो उसकी जगह मैं आपको कहूंगा आईपोमिया का तो पेड़ जरूर है। जैसा मैंने आपको जिक्र भी किया है एक पत्रिका का जो हर सप्ताह आ रही है, आप कह सकते हैं जो हर सप्ताह उग रही है। आईपोमिया भी इस तरह से खूब उगता है जगह-जगह। उसका भी एक फूल उगता है। इस तरह के प्रयास तो कई हैं। आपके ही प्रदेश से एक पत्रिका आती है और इस तरह का जो प्रयास मैंने आपको बताया और सरकार भी एक मैगजीन निकाल रही है 'बाल भारती' और उसके अलावा छोटी-छोटी पत्रिकाएं तो इधर-उधर देखने को मिल जाती हैं वहां भी।

प्रश्नः लेकिन मुख्यत तो दो ही पत्रिकाएं हैं चंपक और नंदन। इनकी लोकप्रियता का क्या कारण है ?

उत्तरः देखिए ये जो पत्रिकाएं हैं हिन्दुस्तान टाइम्स ग्रुप और सरिता ग्रुप की। सरिता ग्रुप की तो पत्रिका ऐसी हैं कि अंग्रेजी में भी हैं और हिन्दी में भी हैं। इसका एक निश्चित बना-बनाया रूप है और चूंकि बच्चों के पास और कोई चीज नहीं है और खासकर के इसमें एक उभरता हुआ निम्न मध्यम वर्ग का संसार है, जो अभी तक पूरी तरह से अंग्रेजी में शिफ्ट नहीं हुआ है। उस वर्ग को ये पत्रिकाएं उपलब्ध होती हैं । और वहीं पर इनका एक बहुत विस्तृत संसार है। और चूंकि